

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे...)

दूसरा छन्द इसप्रकार है -

(शार्दूलविक्रीडित)

कोपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यलं
मिथ्यात्वादिकलंकपंकरहितः सद्धर्मरक्षामणिः ।
सोऽयं संप्रति भूतले दिवि पुनदेवैश्च संपूज्यते
मुक्तानेकपरिग्रहव्यतिकरः पापाटवीपावकः ॥२४१॥

(ताटंक)

ग्रन्थ रहित निर्ग्रथ पाप बन दहें पुजें इस भूतल में।

सत्यधर्म के रक्षामणि मुनि विरहित मिथ्यामल कलि में॥२४१॥

कहीं कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्व आदि कीचड़ से रहित सद्धर्मरूपी रक्षामणि के समान समर्थ मुनिपद धारण करता है, जिसने सभी प्रकार के परिग्रहों को छोड़ा है और जो पापरूपी वन को जलानेवाली अग्नि के समान है; ऐसे वे मुनिराज इस कलयुग में भी सम्पूर्ण भूतल में और देवलोक के देवों से भी पूजे जाते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“पंचमकाल में कहीं कोई भाग्यशाली सत्पुरुषार्थी जीव मिथ्यात्व आदि मलरहित निर्विकल्प आत्मदशारूप आवश्यक को अंगीकार करता है, वह सत्यार्थ चिदानंद में जागृत रहता हुआ स्वयं ही स्वाश्रित वीतराग धर्म की मिथ्याभावों से रक्षा करने में समर्थ होता है - ऐसे वीतरागी भावलिंगी मुनिराजों को ही यहाँ सद्धर्मरक्षामणि कहा गया है।^१

जिन्होंने सर्व परिग्रहों के विस्तार को छोड़ा है, जिनके पर के ग्रहण-त्यागरहित अपने ज्ञानमात्र स्वभाव के भानपूर्वक वस्त्र-पात्रादि के त्यागपूर्वक शरीरमात्र परिग्रह है। पीछी-कमण्डल भी उपचरित परिग्रह है। संयमहेतु शरीर संबंधी आहार-विहार की अपेक्षा देहमात्र परिग्रह है और जो पुण्य-पापरूपी महाभयंकर जंगल को जलानेवाली अग्नि है अर्थात् वे मुनिराज चैतन्य में ऐसे एकाग्र हो रहे हैं कि उन्हें विभाव की उत्पत्ति ही नहीं होती - ऐसे मुनिराज को इस समय मनुष्य लोक में तो

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०२९

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११७९-११८०

पूज्यता है ही, वे देवलोक में भी देवों द्वारा भलेप्रकार पूज्य हैं अर्थात् वे स्वर्ग में जाकर महर्द्धिकदेव का पद प्राप्त करते हैं।^१”

इस कलश में यही कहा गया है कि यद्यपि आत्मानुभवी स्ववश मुनिराजों के दर्शन सुलभ नहीं हैं; तथापि ऐसा भी नहीं है कि उनके दर्शन असंभव हों। उनका अस्तित्व आज भी संभव है और पंचमकाल के अन्त तक रहेगा।

दुर्भाग्य से यदि आपको आज सच्चे मुनिराजों के दर्शन उपलब्ध नहीं हैं तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि इस काल में सच्चे मुनिराजों का अस्तित्व ही संभव नहीं है; क्योंकि शास्त्रों के अनुसार उनका अस्तित्व पंचमकाल के अन्त तक रहेगा ॥२४१॥

तीसरा छन्द इसप्रकार है -

(शिखरिणी)

तपस्या लोकेस्मिन्निखिलमुधियां प्राणदयिता ।
नमस्या सा योग्या शतमखशतस्यापि सततम्
परिप्राप्यैतां यः स्मरतिमिरसंसारजनितं
सुखं रेमे कश्चिद्वत् कलिहतोऽसौ जडमतिः ॥२४२॥

(ताटक)

मतिमानों को अतिप्रिय एवं शत इन्द्रों से अर्चित तप।

उसको भी पाकर जो मन्मथ वश है कलि से घायल वह ॥२४२॥

सौ इन्द्रों से भी सतत् वंदनीय तपश्चर्या लोक में सभी बुद्धिमानों को प्राणों से भी प्यारी होती है। ऐसी तपश्चर्या प्राप्त करके भी जो जीव कामान्धकार सहित सांसारिक सुखों में रमता है; वह स्थूलबुद्धि कलिकाल से मारा हुआ है।

इस छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“सौ इन्द्रों द्वारा वंदनीय महान मुनिवेश धारण करके भी जो भोगादि में सुख मानता है, वह कामान्धकाररूप संसार से उत्पन्न सुख में रमता है। वह व्यवहार का पक्ष करके पुण्यादि विकारीभावों में उत्साही होकर ज्ञातास्वभाव का विरोध करता है। वह जडमति है।^२”

विगत छन्द के समान इस छन्द में भी यही कहा गया है कि जो तप शत इन्द्रों से वंदनीय है; उसे प्राप्त कर भी जो विषयों में रमता है, वह कलयुग का मारा हुआ है, अभागा है।

तात्पर्य यह है कि तप एक महाभाग्य से प्राप्त होनेवाला आत्मा का सर्वोत्कृष्ट धर्म

है; उसे शास्त्रों में निर्जरा का कारण कहा गया है।

ऐसे परमतप को प्राप्त करके भी जो विषयों में रमते हैं, उनके अभाग्य की महिमा तो हम से हो नहीं सकती ॥२४२॥

चौथा छन्द इसप्रकार है -

(आर्या)

अन्यवशः संसारी मुनिवेशधरोपि दुःखभाङ्गनित्यम् ।

स्ववशो जीवन्मुक्तः किञ्चिन्मन्यूनो जिनेश्वरादेशः ॥२४३॥

(ताटक)

मुनि होकर भी अरे अन्यवश संसारी है, दुःखमय है।

और स्ववशजन सुखी मुक्त रे बस जिनवर से कुछ कम है ॥२४३॥

जो जीव अन्यवश है, वह भले ही मुनिवेश धारी हो, तथापि संसारी है, संसार में भटकनेवाला है; सदा ही दुखी है, दुःख भोगनेवाला है और जो जीव स्ववश है, वह जीवन्मुक्त है; जिनेन्द्र भगवान से थोड़ा ही कम है, एक प्रकार से जिनेन्द्र समान ही है।

इस छन्द का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“ज्ञानस्वरूप में लीनता की दृष्टिपूर्वक वीतरागतारूप स्ववश रहनेवाला जीवन्मुक्त है।^१

बाह्यपदार्थों के त्याग करनेवाले को लोक भी त्यागी कहता है और वह स्वयं भी अपने को त्यागी मानता है। ऐसा होने पर भी वह पुण्यादि विकार से लाभ मानता है। अतः उसने किसी भी प्रकार संसार का त्याग नहीं किया। उसने तो सभी मिथ्यात्वरूपी अनंत संसार को भले प्रकार पकड़ रखा है। अतः वह मुनिवेशधारी जीव बाह्य में व्रत-तप आदि करते हुए भी सदा दुःख भोगनेवाला संसारी है और चैतन्यस्वरूप सहजानंद के आश्रय से ही लाभ माननेवाले अन्तर्लीन पुरुष जिनेश्वर से किञ्चित् न्यून हैं, वे वीतरागचारित्र के कारण जिनेश्वरपद अर्थात् पूर्ण वीतरागतापूर्वक शीघ्र ही केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं। तात्पर्य यह है कि उनके मोक्ष निकट है।

वीतरागी श्रद्धा अपेक्षा तो वह पूर्ण जिन है और चारित्र में आंशिक जिन है, पूर्णता के सन्मुख है। यहाँ मोक्ष के साक्षात् कारणस्वरूप निश्चयचारित्र की मुख्यता की अपेक्षा वर्णन है, अपूर्णज्ञान की अपेक्षा नहीं।^२”

इस छन्द में निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए एकदम साफ शब्दों में कह दिया गया है कि जो जीव अन्यवश हैं; वे भले मुनिवेशधारी हों तो भी संसारी हैं, संसार समुद्र में गोता

लगानेवाले हैं और जो जीव स्ववश हैं; वे जीवन्मुक्त हैं। वे जिनेन्द्र भगवान के समान ही हैं; बस जिनेन्द्र भगवान से कुछ ही कम हैं। तात्पर्य यह है कि वे अल्पकाल में ही भगवान बननेवाले हैं ॥२४३॥

पाँचवाँ छन्द इसप्रकार है -

(आर्या)

अत एव भाति नित्यं स्ववशो जिननाथमार्गमुनिवर्गे ।
अन्यवशो भात्येवं भृत्यप्रकरेषु राजवल्लभवत् ॥२४४॥

(ताटक)

अतःएव श्री जिनवर पथ में स्ववश मुनि शोभा पाते ।

और अन्यवश मुनिजन तो बस चमचौं सम शोभा पाते ॥२४४॥

इसीलिए स्ववश मुनि ही मुनिवर्ग में शोभा पाता है; अन्यवश मुनि तो उस चापलूस नौकर के समान है कि जो भले ही अपनी चापलूसी के कारण थोड़ी-बहुत इज्जत पा जाता हो, पर शोभा नहीं देता ।

इस छन्द का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“इसप्रकार जिननाथ के मार्ग में नित्यस्वरूपप्रत्यक्ष कारण परमात्मा के सन्मुख चिदानन्द में लीन मुनि ही शोभा देते हैं; व्यवहार, पुण्य-पाप एवं विकल्पों के वश बहुत प्रकार की शुभक्रिया करनेवाले निमित्ताधीन दृष्टिवान जीव वीतरागमार्ग में सुशोभित नहीं होते । वे अन्यवश पराश्रय दृष्टिवान पुरुष अपने मालिक को मात्र खुशामद करके खुश करनेवाले मूर्ख नौकर की भाँति शोभा नहीं देते अर्थात् व्यवहार व्रतादि क्रियाकाण्ड द्वारा लोकरंजन करनेवाले को लोग अच्छा माने; परन्तु वे आत्मानुभव रहित होने से, निश्चय-आवश्यकस्वरूप एकाग्र आनन्द में लीन मुनियों में शोभा नहीं देते ।”

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि स्ववश मुनिराज ही शोभास्पद हैं, अन्यवश नहीं ॥२४४॥

नियमसार गाथा १४४

विगत गाथाओं में स्ववश और अन्यवश मुनिराज की चर्चा चल रही है । इस गाथा में भी उसी बात को आगे बढ़ाते हुए कुछ गंभीर प्रमेय उपस्थित करते हैं । गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो ।

तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे ॥१४४॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११८३

(हरिगीत)

वे संयमी भी अन्यवश हैं जो रहें शुभभाव में ।

उन्हें आवश्यक नहीं यह कथन है जिनेदव का ॥१४४॥

जो संयमी जीव शुभभाव में प्रवर्तता है; वह वस्तुतः अन्यवश है; इसलिए उसे आवश्यकरूप कर्म नहीं है ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“इस गाथा में भी अन्यवश अशुद्ध अन्तरात्मा जीव का लक्षण कहा गया है ।

जो श्रमण जिनेन्द्र भगवान के मुखारविन्द से निकले हुए परम आचार शास्त्र के अनुसार सदा संयत रहता हुआ शुभोपयोग में रहता है, प्रवर्तता है; व्यावहारिक धर्मध्यान में रहता है; इसलिए चरण करण प्रधान है, आचरण आचरण में प्रधान है; स्वाध्याय काल का अवलोकन करता हुआ स्वाध्याय करता है; प्रतिदिन भोजन करके चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान (त्याग) करता है; तीन संख्याओं के समय अर्थात् प्रातः, दोपहर और सायंकाल भगवान अरहंत परमेश्वर की लाखों स्तुतियाँ मुख से बोलता है; तीन काल नियम परायण रहता है; इसप्रकार दिन-रात ग्यारह क्रियाओं में तत्पर रहता है; पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक (वार्षिक) प्रतिक्रमण सुनने से उत्पन्न संतोष से जिसका धर्मशरीर रोमांचित होता है; अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्ति-परिसंख्यान, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश नाम के छह बाह्य तपों में जो सदा उल्लसित रहता है; स्वाध्याय, ध्यान, शुभ आचरण से च्युत होने पर पुनः उनमें स्थापनरूप प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य और व्युत्सर्ग नामक आभ्यन्तर तपों के अनुष्ठान में जो कुशलबुद्धिवाला है; परन्तु वह निरपेक्ष तपोधन मोक्ष के साक्षात् कारणरूप स्वात्माश्रित आवश्यक कर्म को निश्चय से परमात्मतत्त्व में विश्रान्तिरूप निश्चय धर्मध्यान को, शुक्लध्यान को नहीं जानता; इसलिए परद्रव्य में परिणत होने से उसे अन्यवश कहा गया है ।

जिसका चित्त तपश्चरण में लीन है, ऐसा वह अन्यवश श्रमण देवल्लोकादि के क्लेश की परम्परा प्राप्त होने से शुभोपयोग के फलस्वरूप प्रशस्तरागरूप अंगारों से सिकता हुआ, आसन्नभव्यतारूपी गुण का उदय होने पर परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त परमतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानस्वरूप शुद्ध निश्चय परिणति द्वारा निर्वाण को प्राप्त होता है ।

तात्पर्य यह है कि शुद्ध निश्चय परिणति प्राप्त होने पर ही निर्वाण को प्राप्त करता है ।”

उक्त गाथा और उसकी टीका का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी

इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ पराश्रय की श्रद्धा अर्थात् व्यवहार में लीन ऐसे अन्यवश अशुद्ध-अन्तरात्मा का लक्षण कहा जाता है।

जो श्रमण वास्तव में जिनेन्द्र देव की दिव्यध्वनि में बताये गये परमावश्यक के लिए जिसप्रकार शास्त्र में व्यवहार क्रिया का अधिकार है, उसप्रकार पालता है अर्थात् व्यवहारमात्र में सदा संयत रहता हुआ दया-दान एवं व्रतादि शुभोपयोग में प्रवर्तता है, पराश्रित व्यवहार धर्मध्यान में रुकता है - अटकता है, वह शुभकर्मचेतना के आचरण में ही सदा तत्पर रहता हुआ स्वाध्याय आदि ग्यारह क्रियाओं को इसप्रकार करता है :-

(१) स्वाध्यायकाल का ध्यान रखता हुआ स्वाध्याय की क्रिया करता है अर्थात् शास्त्रों को पढ़ता है, पढ़ाता है।

(२-५) प्रतिदिन निर्धारित समय पर एक बार आहार करके चतुर्विध आहार का त्याग करता है।

(६-८) तीन संध्याओं के समय अर्थात् प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल अपने मुखकमल से भगवान अरहंत परमेश्वर की स्तुति बोलता है।

(९-११) तीनों काल व्यवहार नियमों में तत्पर-सावधान रहता है।

इसप्रकार दिन-रात उक्त ग्यारह क्रियाओं में सदा तत्पर रहता है।^१”

यद्यपि इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि जो जीव संयत होने पर भी शुभभाव में प्रवर्तता है, वह अन्यवश है; इसलिए उसे आवश्यकरूप कर्म नहीं है; तथापि तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव गाथा का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए आरंभ में ही लिख देते हैं कि इस गाथा में अशुद्ध अन्तरात्मा का कथन है।

‘संयत’ पद का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि वह जिनागम संयत आचरण का पालन करता है, जिनागम का अध्ययन करता है, प्रत्याख्यान करता है, अर्हन्त भगवान की स्तुति करता है, प्रतिक्रमण करता है; अनशनादि छह बाह्य तप और प्रायश्चित्तादि छह अंतरंग तपों में उत्साहित रहता है।

इसप्रकार वह न केवल जिनागम का अध्येता है, अपितु उसे जीवन में अपनाता भी है, आचरण में भी लाता है। ऐसा संयत होने पर भी अन्यवश ही है, स्ववश नहीं, निश्चय परमावश्यक का धारी नहीं है; क्योंकि परमतत्त्व में विश्रान्तिरूप निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप परिणामित नहीं होता। इसलिए वह अन्यवश ही है,

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११७६-७७

स्ववश नहीं।

उसके भविष्य के बारे में उनका कहना यह है कि वह अन्यवश श्रमण शुभोपयोग के फलस्वरूप प्रशस्तरागरूप अंगारों से सिकता हुआ क्लेश पाता है।

अन्त में ऐसा भी लिखते हैं कि वह आसन्नभव्य सद्गुरु के प्रसाद से प्राप्त परमतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान स्वरूप शुद्धनिश्चय परिणति के द्वारा निर्वाण को प्राप्त करता है।

उक्त सम्पूर्ण स्थिति पर गंभीरता से विचार करने पर विचारणीय बात यह है कि टीकाकार मुनिराज सबसे तो यह कह देते हैं कि यह अशुद्ध अन्तरात्मा का कथन है और बीच में यह भी कहते हैं कि वह परमतत्त्व में विश्रान्तिरूप निश्चयधर्मध्यान और शुक्लध्यान को नहीं जानता।

इसीप्रकार उसकी स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं कि वह अन्यवश श्रमण शुभोपयोग के फलस्वरूप प्रशस्तरागरूप अंगारों में सिकता हुआ क्लेश पाता है। अन्ततः यह कह देते हैं कि वह आसन्नभव्य सद्गुरु के प्रसाद से प्राप्त परमतत्त्व के श्रद्धान-ज्ञान और अनुष्ठानरूप शुद्धनिश्चय परिणति के द्वारा निर्वाण को प्राप्त करता है।

उक्त स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि वह ज्ञानी है या अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि है या सम्यग्दृष्टि? क्योंकि अन्तरात्मा तो सम्यग्दृष्टि ही होते हैं; पर अन्तरात्मा के साथ यहाँ अशुद्ध विशेषण लगा हुआ है और यह भी कहा है कि वह निश्चयधर्मध्यान एवं शुक्लध्यान को नहीं जानता। उक्त स्थिति में वह अज्ञानी जैसा लगने लगता है।

यह तो साफ ही है कि वह स्ववश नहीं है, परवश है। परवश के निश्चय परमावश्यक नहीं होते - यह भी स्पष्ट है।

उक्त सम्पूर्ण स्थिति पर गंभीर मंथन करने पर यही स्पष्ट होता है कि यहाँ भी उसीप्रकार का प्रस्तुतीकरण है, जैसाकि समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय में स्वसमय और परसमय के संदर्भ में किया गया है। यहाँ प्ररूपित परवश श्रमण श्रद्धा के दोषवाला अज्ञानी नहीं है, अपितु शुभोपयोगरत ज्ञानी जीव ही है।

स्वसमय और परसमय के संदर्भ में विशेष जानकारी के लिए समयसार अनुशीलन भाग १, पृ. २५ से ३५ तक एवं प्रवचनसार अनुशीलन भाग २, पृ. ११ से २२ तक अध्ययन करना चाहिए। ११४४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(हरिणी)

त्यजतु सुरलोकादिक्लेशे रतिं मुनिपुंगवो
भजतु परमानन्दं निर्वाणकारणकारणम् ।
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणात्मकं
सहजपरमात्मानं दूरं नयानयसंहतेः ॥२४५॥

(ताटक)

अतः मुनिवरो देवलोक के क्लेशों से रति को छोड़ो।

सुख-ज्ञान पूर नय-अनय दूर निज आतम में निज को जोड़ो ॥२४५॥

हे मुनिपुंगव ! देवलोक के क्लेश के प्रति रति छोड़ो और मुक्ति का कारण जो सहज परमात्मा है, उसको भजो। वह सहज परमात्मा परमानन्दमय है, सर्वथा निर्मल ज्ञान का आवास है, निरावरण है तथा नय और अनय के समूह से दूर है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“यहाँ मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि हे मुनिवर! स्वर्गलोक आदि के पुण्यपद के क्लेश के प्रति रति छोड़ो। दया-दान-सामायिक आदि के विकल्प की रुचि के फल में प्राप्त नवग्रेवैयक के पुण्यरूप क्लेश की रुचि को नित्यानन्द की रुचि द्वारा छोड़ दो। उसमें किञ्चित भी कल्याण नहीं होता और निर्वाण का कारण शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग है, उसका कारण जो कारणपरमात्मा सहज चिदानन्दस्वरूपी है, उसको भजो। वह सहज परमात्मा नित्य परमानन्दमय है। अतः तुम उसमें ही सदा सन्तुष्ट, तृप्त, लीन हो जाओ।”

उक्त कलश में स्वर्ग सुखों के प्रति आकर्षण को छोड़ने और अपने त्रिकाली ध्रुव सहज आत्मा को भजने का उपदेश दिया गया है ॥२४५॥

नियमसार गाथा १४५

विगत गाथा में अन्यवश का स्वरूप स्पष्ट किया था। इस गाथा में भी उसी के स्वरूप को और विशेष स्पष्ट करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

द्व्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो ।

मोहंधयारववगयसमणा कहयंति एरिसयं ॥१४५॥

(हरिगीत)

विकल्पों में मन लगावें द्रव्य-गुण-पर्याय के।

अरे वे भी अन्यवश निर्मोहजिन ऐसा कहें ॥१४५॥

जो द्रव्य, गुण, पर्यायों में या तत्संबंधी विकल्पों में मन लगाता है, वह भी अन्यवश है। मोहंधकार रहित श्रमण ऐसा कहते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव तात्पर्यवृत्ति टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ भी अन्यवश का स्वरूप कहा है। अरहंत भगवान के मुखार-बिन्द से निकले हुए मूल और उत्तर पदार्थों का अर्थ सहित प्रतिपादन करने में समर्थ कोई द्रव्यलिंगधारी मुनि कभी छह द्रव्यों के चिन्तन में चित्त लगाता है; कभी उनके मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन गुणों के चिन्तन में मन लगाता है; कभी उनकी अर्थ पर्यायों के वयंजनपर्यायों के चिन्तन में बुद्धि को लगाता है; परन्तु त्रिकाल निरावरण नित्यानन्द लक्षणवाले निज कारण समयसार स्वरूप में निरत सहज ज्ञानादि शुद्ध गुण पर्यायों के आधारभूत निज आत्मतत्त्व में चित्त को कभी भी नहीं लगाता; उस तपोधन को भी इसकारण से ही, विकल्पों के वश होने के कारण से ही अन्यवश कहा गया है।

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूपी अंधकार समूह का नाश करनेवाले और परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न वीतराग सुखामृत के पान में तत्पर श्रमण ही वस्तुतः महाश्रमण है, परमश्रुतकेवली हैं। उन्होंने अन्यवश का स्वरूप-ऐसा कहा है।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जिनको आत्मानुभव नहीं हुआ है - ऐसे पराश्रय दृष्टिवान तपोधन शुभविकल्पों में धर्म मानकर राग में अटके हुए हैं; इसलिए वे अन्यवश हैं। वे भेद एवं विकार के स्वामी होते हैं, अभेदस्वभाव के स्वामी नहीं होते।

जिन्होंने दर्शनमोह व चारित्रमोहरूपी अन्धकार समूह का नाश किया है और जो अखण्डानन्द निजपरमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न वीतराग सुखामृत के स्वाद में तत्पर हैं। - ऐसे श्रमण ही वास्तव में श्रमण हैं, महाश्रमण हैं, परमश्रुतकेवली हैं। उन्होंने ही उपरोक्त प्रकार से अन्यवश का स्वरूप कहा है।

बाह्यव्रतादि के विकल्पों में उलझे व्यक्ति को तो धर्म है ही नहीं; परन्तु अपने अन्दर के द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद के - विकल्प के वश रहनेवाले के भी धर्म नहीं है, क्योंकि राग में एकाग्र रहनेवाला उपयोग अरागी चैतन्य में कैसे जुड़ सकता है? अर्थात् परावलम्बन में - पर के साथ जुड़ान में तो राग की ही उत्पत्ति होती है, वहाँ वीतरागी शान्ति प्रगट नहीं होती।”

उक्त गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान की वाणी में प्रतिपादित द्रव्य-गुण-पर्याय के चिन्तन-मनन में जुटे रहनेवाले मुनिराज भी यदि समयसारस्वरूप निज आत्मा में अपने चित्त को नहीं लगाते, उसमें जमते-रमते नहीं हैं तो वे इसकारण ही परवश हैं; उनके निश्चय परम आवश्यक नहीं है ॥१४५॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज तथा चोक्तं - तथा कहा भी है - ऐसा लिखकर एक छन्द उद्धृत करते हैं, जो इसप्रकार है -

(अनुष्टुभ्)

आत्मकार्य परित्यज्य दृष्टादृष्टविरुद्धया ।

यतीनां ब्रह्मनिष्ठानां किं तथा परिचिन्तया ॥६७॥

(दोहा)

ब्रह्मनिष्ठ मुनिवरों को दृष्टादृष्ट विरुद्ध ।

आत्मकार्य को छोड़ क्या परचिन्ता से सिद्ध ॥६७॥

आत्मकार्य को छोड़कर दृष्ट (प्रत्यक्ष) और अदृष्ट (परोक्ष) से विरुद्ध चिन्ता से, चिन्तवन से ब्रह्मनिष्ठ मुनियों को क्या प्रयोजन है ?

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जिनको आत्मानुभव नहीं हुआ है - ऐसे पराश्रय दृष्टिवान तपोधन शुभविकल्पों में धर्म मानकर राग में अटके हुए हैं, इसलिए वे अन्यवश हैं। वे भेद एवं विकार के स्वामी होते हैं, अभेदस्वभाव के स्वामी नहीं होते। जिन्होंने दर्शनमोह व चारित्रमोहरूपी अन्धकार समूह का नाश किया है और जो अखण्डानन्द निजपरमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न वीतराग सुखामृत के स्वाद में तत्पर हैं - ऐसे श्रमण ही वास्तव में श्रमण हैं, महाश्रमण हैं, परमश्रुतकेवली हैं। उन्होंने ही उपरोक्त प्रकार से अन्यवश का स्वरूप कहा है।

बाह्यव्रतादि के विकल्पों में उलझे व्यक्ति को तो धर्म है ही नहीं; परन्तु अपने अन्दर के द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद के - विकल्प के वश रहनेवाले के भी धर्म नहीं है; क्योंकि राग में एकाग्र रहनेवाला उपयोग अरागी चैतन्य में कैसे जुड़ सकता है ? अर्थात् परावलम्बन में - पर के साथ जुड़ान में तो राग की ही उत्पत्ति होती है, वहाँ वीतरागी शान्ति प्रगट नहीं होती।^१

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११८४-८५

यहाँ कहते हैं कि किसी के चिन्ता करने से स्व-पर का न तो कुछ भी बिगड़ता है और न ही कुछ सुधरता है; इसलिए यहाँ शुभ-अशुभ भावों को, द्रव्यादि के विकल्पों को एवं सर्वभेदों को गौण करके ज्ञायकस्वभाव में एकाग्र होना ही एकमात्र प्रयोजन बताया है। यही आवश्यक है, यही स्ववशपना है।^१”

इस कलश में यह कहा गया है कि अपने आत्मा के ज्ञान-ध्यान को छोड़कर जो कार्य प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से सिद्ध नहीं होते - ऐसे व्यर्थ के कार्यों में उलझने से किस कार्य की सिद्धि होती है। विशेष आत्मज्ञानी मुनिराजों को तो इनमें से किसी स्थिति में उलझना ठीक नहीं है ॥६७॥

(अनुष्टुभ्)

यावच्चिन्तास्ति जन्तूनां तावद्भवति संसृतिः ।

यथेधनसनाथस्य स्वाहानाथस्य वर्धनम् ॥२४६॥

(दोहा)

जब तक ईधन युक्त है अग्नि बढ़े भरपूर।

जबतक चिन्ता जीव को तबतक भव का पूरा ॥२४६॥

जिसप्रकार जबतक ईधन हो, तबतक अग्नि वृद्धि को प्राप्त होती है; उसीप्रकार जबतक जीवों को चिन्ता है, तबतक संसार है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जिसप्रकार अग्नि को जबतक ईधन मिलता रहता है, तबतक वह बढ़ती ही जाती है, बुझती नहीं है; इसीप्रकार जबतक शुभाशुभभाव है, उसकी चिन्ता है, तबतक आकुलतामय संसाररूपी अग्नि बढ़ती ही जाती है, खत्म नहीं होती। संसार के कारणों से मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता; इसलिए सर्वप्रथम यह नक्की करो कि पुण्य-पाप के भाव हितरूप नहीं हैं, अपितु निर्मल ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में एकाग्रता ही हितरूप है, हितकारी है।^२”

जिसप्रकार जबतक ईधन है, तबतक अग्नि भड़कती ही है; उसीप्रकार जबतक सांसारिक कार्यों की चिन्ता में यह जीव उलझा रहेगा; तबतक संसार परिभ्रमण होगा ही। अतः जिन्हें संसार परिभ्रमण से मुक्त होना हो, वे सन्तगण सांसारिक चिन्ताओं से पूर्णतः मुक्त रहें ॥२४६॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११८५-११८६

२. वही, पृष्ठ ११८७